आख़िर इस दर्द की दवा क्या है

प्रफुल्ल कोलख्यान

हमें अपने राजनीतिक लोकतंत्र को सामाजिक लोकतंत्र के रूप में ढालना है। राजनीतिक लोकतंत्र तब तक नहीं टिक सकता जब तक कि उसकी आधारशिला के रूप में सामाजिक लोकतंत्र न हो। सामाजिक लोकतंत्र का क्या अर्थ है? इसका अर्थ है जीवन की वह राह जो स्वाधीनता, समानता एवं भ्रातृत्व को जीवन के सिद्धांत के रूप में मान्यता दे।

- भीमराव आंबेदकर

(संविधान सभा में दिया गया भाषण, नवंबर 1949)

दुखद है कि सामाजिक लोकतंत्र का लक्ष्य हमारी दृष्टि से निरंतर ओझल होता चला गया है। हमारी संवेदना को काठ मार गया है। सामाजिक आचरण में सार्वजनिक क्रूरताओं का लगभग निर्विरोध समावेश एक त्रासद सचाई है। नई क्षमताओं से लैस क्रूरताएँ जीवन में घुसकर मुस्कुरा रही हैं। सच है कि आँकड़ों की कुछ सीमाएँ होती हैं, इन सीमाओं के

बावजूद इनके महत्त्व को नकारना संभव नहीं है। राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो के एकत्र आँकड़ों के अनुसार समाज में दलितों, आदिवासियों, अल्पसंख्यकों और स्त्रियों पर निरंतर अत्याचार बढ़ रहे हैं। आज भी भारत में 'गोहाना' हो जाता है। यह 'गोहाना' का हो जाना कोई एकल या अपवाद नहीं है। बदले हुए नाम-रूप से 'गोहाना' प्रकट होता ही रहा है। भारतीय संस्कृति में दलित के प्रति सामाजिक सलूक का सलीका ऐसा फाँस है, जिससे जितनी जल्दी मुक्त हुआ जाये उतना ही बेहतर है। इस दिशा में प्रयास बिल्कुल ही नहीं हुए हों, ऐसी बात नहीं। प्रयास हुए हैं, लेकिन वे सारे प्रयास अपने मकसद को हासिल कर पाने में विफल ही रहे हैं। भारतीय आत्मा को जाति-धर्म की बनाई रसौली की टीस आज भी बेचैन बना रही है। भारत की पीड़ा को समझना हो तो जाति की पीड़ा को समझना अनिवार्य है। जाति का संबंध जहाँ धर्म से है वहीं इसका संबंध सामाजिक हैसियतों और आर्थिक उद्यमों से भी है।

हिंदी भाषा के वृहत्तर साहित्य में हिंदी सामाजिकता का स्थान निरंतर संकुचित होता जा रहा है। यह सच है कि भारतीय समाज के बहुत बड़े हिस्से के जीवन-यापन, उनकी सांस्कृतिक स्थितियों को समझने के लिए साहित्य में प्रामाणिक आधार विरल होते जा रहे हैं। ऐसे माहौल में संजीव खुदशाह की किताब 'सफाई कामगार समुदाय' का आना महत्त्वपूर्ण है। अपनी कुछ कमियों, खासकर भाषागत कमियों, के बावजूद यह किताब एक बहुत बड़ी कमी को दूर करने का गंभीर प्रयास है। इस पुस्तक के खंड-1 में शूद्र, अछूत, अछूतपन का प्रारंभ, परिस्थिति पर शूद्र कौन है?, ग्रामों में शूद्रों की स्थिति, अछूतपन क्या है?, अछूतपन जाति विशेष के लिए, अछूतपन कब से?, क्या अछूत भी ब्रह्मणों से घृणा करते थे? जैसे शीर्षक के अंतर्गत विचार किया गया है। खंड-2 में साफाई कामगार प्रारंभ की परिकल्पना, प्रकार, भंगी का अभिप्राय एवं वर्गीकरण पर तीन परिकल्पनाएँ दी गई हैं। इस खंड में पेशा एवं उद्गम के आधार पर और कार्य के आधार पर कामगार समुदाय का वर्गीकरण किया गया है एवं भंगी पर विचार किया गया है। खंड-3 में सफाई कामगार के पौराणिक संदर्भ से जाति के नामकरण में विवाद, टाटेम क्या है?, श्वपच, चांडाल, डोम के संदर्भ में विचार किया गया है। खंड-4 में सामाजिक परिवेश और खंड-5 में संगठन, विकास एवं समाधान कथा का विवेचन हुआ है।

भारतीय संस्कृति में निहित एकता की बात चाहे जितनी जोर-शोर से की जाए सच यही है कि भारतीय समाज भीतर से विभाजित समाज रहा है। 'भारतीय संस्कृति में निहित एकता की बात' का एक सुनिश्चित राजनीतिक परिप्रेक्ष्य रहा है। भारतीय आजादी के आंदोलन 'भारतीय राष्ट्रवाद' को निर्मित किये जाने की राजनीतिक

जरूरत के अंतर्गत ही 'भारतीय संस्कृति में निहित एकता' को राजनीतिक उपकरण के रूप में अपनाया गया। डॉ. आंबेदकर मानते रहे हैं कि ऐतिहासिक रूप से भारत तीन रहा है, ब्राह्मण भारत, बौद्ध भारत और हिंदू भारत। इन तीनों की अपनी अलग-अलग संस्कृति रही है। जन्म के आधार पर जाति, जाति के आधार आर्थिक-कर्म और आर्थिक-कर्म के आधार पर सामाजिक हैसयित एक ऐसी शृँखला है जिसके मूल में जन्म है। और जन्म पर किसी का न तो कोई अधिकार है न कोई भूमिका है। इसके मूल में व्यक्तिगत संपत्ति और संपत्ति का अगली पीढ़ी को हस्तांतरित होना भी है। अमीर का बेटा अमीर और गरीब का बेटा गरीब! व्यक्ति का जन्म उसके अपने पराक्रम के अनुसार तय नहीं होता है, बल्कि उसका पराक्रम उसके जन्म के आधार पर तय होता है। वैश्विक आधार पर देखने से भी बदले हुए रूप और बदली हुई अंतर्वस्तु के बावजूद यह मानने में कोई दिक्कत नहीं होनी चाहिए कि दुनिया, कम-से-कम भारतीय दुनिया, 'कर्म-प्रधान' नहीं 'जन्म-प्रधान' ही है। डॉ. आंबेदकर ब्राह्मणवाद के आशय को स्वतंत्रता, समता और भाईचारा की भावनाओं के निषेध से जोड़ते थे। स्वतंत्रता, समता और भाईचारा की भावनाओं के निषेध का बहुत ही गहरा संबंध पूँजीवाद से भी है। मतलब यह कि आर्थिक शब्दावली में जो पूँजीवाद है, सामाजिक क्षेत्र में वही ब्राह्मणवाद है और इन दोनों को मिलाने का काम सत्ता की राजनीति करती है। जनता की राजनीति की चुनौती के अभाव में सत्ता की राजनीति खुलकर अपना खेल दिखाती रहती है। भारतीय संदर्भ में ब्रह्मणवाद के साथ सामंतवाद और पूँजीवाद की नाभि-नाल अंतर्बद्धताओं को समझना सदैव से एक चुनौती रही है। इसके लिए व्यक्तिगत-संपत्ति और सामुदायिक-विपत्ति के अगली पीढ़ी में अंतरण की प्रक्रिया को समझना जरूरी है। इस अंतरण प्रक्रिया को समझने पर आर्थिक मामलों में विषमतामूलक पूँजीवाद का समर्थन करनेवाली सामाजिक प्रक्रियाओं के रहते सामाजिक क्षेत्र में भेद-भावमूलक ब्राह्मणवाद के विरोध की सामाजिक शक्ति के सक्रिय होने की उम्मीद में ही खोट है। इस उममीद में बौद्धिक भोलापन और दोगोलापन होता है।

दुनिया में इतने सारे बदलाव हुए हैं, फिर भी कुछ संदर्भों में बदलाव नहीं हुए हैं। मनुष्य को विभिन्न आधार पर बाँटनेवाले कारक सक्रिय रहे हैं। भारतीय संदर्भ में जाति आधारित विभाजन बहुत ही तीखा रहा है। इसलिए, भारतीय संदर्भ में जाति को समझना बहुत ही आवश्यक है। आजादी के आंदोलन के दौरान यह मोटी समझ बनी थी कि आजादी के हासिल होते ही बहुत सारी सामाजिक समस्याओं का हल अपने-आप निकल आयेगा। कालांतर में यह बात साफ होती गई कि ऐसा सोचना हमारा भोलापन था। दोगोलापन यह कि आजादी के आंदोलोन की प्रतिज्ञाएँ आजादी के बाद भुला दी गई। वे प्रतिज्ञाएँ राष्ट्रीय चिंता के केंद्र से ही नहीं उसकी परिधि से भी बाहर होती चली गई। असल में तमाम सदाशयताओं के बावजूद यह चूक भारतीय मुक्ति के राष्ट्रीय आंदोलन की बुनियाद में ही

घर कर गई थी। भारतीय आजादी के आंदोलन के गाँधी जैसे प्रमुख नेताओं के मन में यह विश्वास था कि भारत की जाति समस्या सामाजिक समस्या है। इसे राजनीतिक समस्या मानना भूल होगी। नतीजा वे इसके राजनीतिक पक्ष को समझ ही नहीं पाये। नेहरू जैसे प्रगतिशील नेताओं की कार्यसूची में इस समस्या को प्राथमिकता ही प्राप्त नहीं हो सकी। आंबेदकर ने जरूर यह माना कि भारत में जाति-व्यवस्था धार्मिक और सामाजिक समस्या न होकर एक राजनीतिक समस्या है। इस समस्या के हल के लिए स्वभावत: राजनीतिक उपकरणों की ही जरूरत थी। उन्होंने अपनी ओर से भरपूर प्रयास किया किंतु मुख्यधारा की राजनीति के दबाव के कारण ऐसा करना उस समय उनके लिए ऐतिहासिक कारणों से भी संभव नहीं था।

रामशरण शर्मा (देखें प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ: राजकमल प्रकाशन, 2001) ने सप्रमाण बताया है कि 'ईसा की दूसरी शताब्दी के अभिलेख बताते हैं कि राजा वर्णव्यवस्था का पोषक और संरक्षक है। इसके बाद राजा के इस कर्त्तव्य की चर्चा अभिलेखों में आम तौर पर होने लगी। कलियुग का सामाजिक संकट आरंभ होने के बाद राजा के इस दायित्व पर सबसे अधिक बल दिया जाने लगा। ईसा के बाद की तीसरी शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश से चौथी शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश के पौराणिक पाठ्यांशों से पता चलता है कि आंतरिक संकट के कारण वर्णव्यवस्था बिखरने लगी। इस अवस्था को कलियुग की संज्ञा दी गई। कलि से लोगों का उद्धार करना राजा का पुनीत कर्त्तव्य बन गया। ईसा के बाद की 4-6 शताब्दियों के अभिलेखों में स्पष्ट रूप से और बाद के पुरा लेखों में पारंपरिक रूप से राजा को वर्णधर्म का पोषक बतलाया गया है।' कहना न होगा कि 'कलि से लोगों का उद्धार करना' वर्णव्यवस्था को बिखराव से बचाना है। समझा जा सकता है कि महात्मा गाँधी की 'सच्ची वर्णव्यवस्था' में 'राजा के कर्त्तव्य' को 'मुख्याधारा के राष्ट्रवाद की राजनीति' के द्वारा आत्मार्पित करने की ऐतिहासिकता को 'दलित राजनीति की समस्या' के संदर्भ में सचेत होकर पढ़ने की जरूरत है।

जवाहरलाल नेहरू गाँधीजी के हरिजन आंदोलन के कार्यक्रमों से बहुत सहमत नहीं थे। राष्ट्रीय लक्ष्यों को जुझारू सामाजिक एवं आर्थिक कार्यक्रमों के साथ जोड़ने की आवश्यकता समझने और 'हिंदू संप्रदायवाद की कड़ी आलोचना' करने के बावजूद नेहरूजी महात्मा गाँधी के हरिजन आंदोलन को भटकाव मानते थे। सुमित सरकार (आधुनिक भारतः 1885-1947: राजकमल प्रकाशन) दर्ज करते हैं कि 'गाँधीजी के अन्य अनेक कार्यक्रमों की भांति उनके हरिजन आंदोलन के कार्यक्रमों में भी लक्ष्यों और महत्त्व को लेकर अनेक अस्पष्टताएँ देखने में आती हैं। जवाहरलाल जैसे जुझारू लोगों का विचार था कि यह कार्यक्रम

साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के मुख्य कार्य से हानिकर भटकाव है; यह धारणा इस बात से भी पुष्ट होती थी कि ब्रिटिश सरकार जेल में गाँधीजी को हरिजन-कार्यक्रम सहर्ष चलाने देती थी। साथ ही, काँग्रेस के भीतर रूढ़िवादी हिंदुओं को यह नई बात अधिकाधिक खल रही थी। उदाहरण के लिए, मालवीय, जो 1920 के दशक के मध्य में गाँधीजी के अत्यंत निकट रहे थे अब उनसे दूर जाने लगे थे।' इससे साफ है कि हरिजन की सामाजिक स्थितियों को लेकर 'मुख्यधारा के भारतीय राष्ट्रवाद' का नजरिया कैसा था। गाँधी जी दलित समस्या के राजनीतिक पहलू को देख ही नहीं पाते थे और 'सच्ची वर्णव्यवस्था' की कामना करते थे। मदनमोहन मालवीय जैसे 'रूढ़िवादी' लोगों के लिए यह समस्या ही नहीं थी, वे इसे धर्म-व्यवस्था मानकर चलते थे। नेहरू जी जैसे 'प्रगतिशील' लोग इसके 'आंतरिक औपनिवेशिक' चरित्र को समझते थे लेकिन उन्हें इससे संघर्ष करने की राजनीतिक फुर्सत ही नहीं थी।

डॉ विन्देश्वर पाठक पीड़ा के साथ दर्ज करते हैं कि 'संसार-भर में वाल्मीकियों की सबसे अधिक संख्या इसी देश में क्यों है? और भी इस भूमि पर, गाँधी जी जैसे लोगों के हो जाने के बाद भी, जिन्होंने भंगी-मुक्ति को स्वाधीनता संग्राम का लगभग एक हिस्सा–रचनात्मक कार्यक्रम मानते हुए आंदोलन चलाया और अपनी यह भावना प्रकट की कि पुनर्जन्म लेना ही पड़े तो ऐसे ही परिवार में जन्म लें ताकि उन्हें जीवन-यापन की इस नारकीय कारा से मुक्त करवाने एवं एक सम्मानजनक-सुंदर-सुखद जीवन जीने का अवसर और अधिकार सुलभ कराने के अभियान में जिंदगी लगा दें।' दिक्कत यहीं है–– इस 'पुनर्जन्म' को गौर से देखना चाहिए। भारतीय (संकुचित अर्थ में हिंदू) सामाजिकता में 'पुनर्जन्म' की संकल्पना का संस्थापन सामाजिक न्याय के अनंत स्थगन को वैध बनाकर अंतत: और स्वत: न्याय के हासिल होने का भरोसा बनाये रखता है। 'पुनर्जन्म' की संकल्पना एक ऐसा पासंग है जिसने भारतीय-बोध में निहित नैसर्गिक-न्याय (natural justice) के चरित्र को ही बदल दिया। यह सभ्यता का अनुभव है कि सद्भावनाओं से प्रारंभ तो किया जा सकता है लेकिन अंतत: ठोस सामाजिक सचाइयों को सिर्फ भावनाओं के बल पर बदला नहीं जा सकता है। घृणा के समाज-शास्त्र के साथ ही घृणा के अर्थ-शास्त्र पर भी काम किये जाने की जरूरत है। संजीव खुदशाह मजदूरी देने में कृपण मानस के भीख देने में उदार होने के विक्षेप को बहुत सफाई से रेखांकित करते हैं। 'वास्तव में, सभी मानव एक हैं। इनमें शारीरिक विभिन्नताएँ नहीं हैं। यदि हम भौतिक आधार – जैसे रंग-रूप, बनावट, ऊँचाई, रक्त ग्रुप, डी एन ए आदि पर परखें तो जाति प्रदर्शित नहीं होती है। किंतु विश्व की महान सभ्यता का दंभ भरनेवाली हिंदू सभ्यता (भारतीय सभ्यता), सबसे महत्त्वपूर्ण मामले (आजन्म जाति बंधन) में असभ्यता दिखाकर इतिहासकारों के सामने कई सवालिया निशान छोड़ रही है। यहाँ भिखारियों को भीख (भारत में एक खास वर्ग को दान देने की धार्मिक परंपरा है।) तो दी जाती है पर मजदूरों को दिहाड़ी (दैनिक मजदूरी)

देने में संकोच होता है। क्योंकि भिखारी का ताल्लुक ऊँची जाति से तथा मजदूरों का ताल्लुक नीची जाति से होता है।' इस प्रवृत्ति को सामाजिक आचरण की पद्धति में और गहनता से तलाशना चाहिए।

खुदशाह की किताब के नाम से ही सपष्ट है, इस पुस्तक में वे सफाई कामगार का अध्ययन समुदाय के रूप में करते हैं। एक समुदाय के रूप में इस समुदाय के विकास के ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक आदि संदर्भों को शोध-मानकों का अनुसरण करते हुए इस पुस्तक में स्पष्ट किया गया है। कहना न होगा कि सफाई कामगार के सामुदायिक परिप्रेक्ष्य को समझने के लिए यह एक दोस्त-किताब है। ग़ालिब के शब्दों में बार-बार पूछने की जरूरत है कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता के इस दर्द की आख़िर दवा क्या है? क्या केरल का अनुभव हिंदी समाज के किसी काम नहीं आ सकता? आशुतोष वार्ष्णेय, 'हिंदू मुस्लिम रिश्ते - नया शोध नये निष्कर्ष' में कहते हैं, 'एक सदी पहले के केरल अगर सबसे ज्यादा ऊँच-नीच के भेदभाववाला क्षेत्र था तो आज भारत में सबसे ज्यादा समानता का सिद्धांत माननेवाला इलाका बन गया है।' संजीव खुदशाह की किताब 'सफाई कामगार समुदाय' साधारण पाठकों के साथ ही सामाजिक संदर्भों में काम करनेवाले, चिंतन करनेवाले लोगों के लिए भी महत्त्वपूर्ण है।

सफाई कामगार समुदाय

संजीव खुदशाह

राधाकृष्ण प्राइवेट लिमिटेड